# विपश्यना

[साधकों का मासिक प्रेरणापत्र]

रजि. नं. १९१५६/७१

पोस्टल रजि. नं. NS (M)–16/84

वर्ष १४ • बम्बई • बुद्धवर्ष २५२८ • पौष पौर्णिमा [ शक ] • दि. ७-१-१९८५ • अंक ७


## प्रेरक प्रसंग

(३)

नन्हीं-नन्हीं सामान्य-साधारण घटनाएँ सबके जीवनमें घटती ही रहती हैं परंतु कभी-कभी बहुत साधारण सी लगनेवाली घटना किसी पुण्यशाली व्यक्तिके लिये अपूर्व प्रेरणा-प्रदायिनी बन जाती है और उसके अन्तर में एक ऐसा अदम्य उत्साह जगा देती है कि वह सारी सुख-सुविधाओंको लात मार कर मुक्तिके मार्ग पर प्रबल पराक्रम करता हुआ बढ़ चलता है।

किसी बूढ़ेको, बीमारको, मुर्देको और संन्यासीको देख लेना कोई असाधारण बात नहीं है। लोग देखते ही रहते हैं। हो सकता है पिता शुद्धोधन ने पुत्र सिद्धार्थ को निवृत्ति मार्ग की ओर जानेसे रोकनेके लिए विलास-वैभव और आमोद-प्रमोदमें लगाए रखा हो। यह भी संभव है कि किसी मुर्देको देखनेका उसे, पहले कभी कोई अवसर न मिला हो। पर वृद्ध तो देखा ही होगा। भले बड़ी उम्रवाले नौकर-नौकरानियोंको राजकुमारसे दूर रखा जाता हो परंतु उसकी अपनी छोटी माँ प्रजावती गौतमी और स्वयं पिता शुद्धोधन लगभग ६५–७० वर्ष के हो चुके थे जब कि राजकुमार २५–३० वर्ष का हुआ। उनके पके हुए बाल, चेहरों पर पड़ी हुई झुर्रियाँ उसने अवश्य देखी होंगी। इसी प्रकार उनमेंसे किसी को कभी रोगसे पीड़ाग्रस्त हुआ भी देखा ही होगा। और धर्मभीरु राजघराना था। आए दिन साधु-संतोंको भोजन-दान, उनका सम्मान-सत्कार चलता ही रहा होगा। उनकी वंदना करने और उनके मंगल– आशिर्वाद लेनेके लिए राजकुमारको भी उनके सम्मुख लाया ही जाता होगा। अतः यह अनुमान करना गलत नहीं कि ऐसे दृष्य राजकुमारने पहले भी अवश्य देखे होंगे। परंतु उस दिन इन्हीं निमित्तोंको देखते हुए मनोस्थिति इस प्रकारकी रही होगी जिसकी वजह से गृहत्याग कर सत्य के खोजकी ऐसी प्रबल प्रेरणा जाग उठी जो किसी के रोके न रुक सकी।

उस दिन देखे गए जरा, व्याधि और मृत्यु के प्रतीकोंमें सारे संसारका दुःख उभर उठा होगा और उस गृहत्यागी संन्यासीके शांत चहरे के प्रतीक में दुःख-विमुक्तिका अपूर्व आश्वासन मनमें जाग उठा होगा। इसी कारण उस घटनाने उस समय चिंतनशील राजकुमार के मानस पर विचारोंका बहुत बड़ा तूफान खड़ा कर दिया होगा।

## धम्म वाणी

जातिधम्मो, जराधम्मो, ब्याधिधम्मो सहं तदा।
अजरं अमतं खेमं परियेसिस्सामि निब्बुतिं ॥

बुद्ध वंश. २/७.

यह जो अब मैं जातिधर्मा हूँ, जराधर्मा हूँ, व्याधिधर्मा हूँ, वह उस निर्वाणकी शांति की खोज करूंगा जो कि अजरा है, अमृत है, क्षेमपूर्ण है।

---

जहाँ संसारमें जन्म, जरा, व्याधि और मृत्युकी सर्वत्र कराह है वहाँ उनके परे अजर, अमर निर्वाणकी सच्चाई भी होगी ही। मुझे उसकी खोज करनी चाहिए।

जैसे संसारमें एक ओर इंद्रिय दुख है तो दूसरी ओर इंद्रिय–सुखका भी अस्तित्व है। ऐसे ही जहाँ भव-चक्र है वहाँ भव-निःसरण भी अवश्य होगा ही।

जैसे संसारमें उष्णता है तो उसके मुकाबले शीतलता भी है। वैसे ही जहाँ त्रिविध ताप है, वहाँ सर्व तापनाशक निर्वाणकी परम शांति भी अवश्य होगी ही।

जैसे यहाँ पाप है और उसके विपरीत पुण्य भी है। वैसे ही जहाँ जन्म है वहाँ अजन्म अवस्था भी होगी ही। जहाँ जरा है, वहाँ अजर अवस्था भी होगी ही। जहाँ मृत्यु है वहाँ अमृत भी अवश्य होगा ही। मुझे इसकी पर्यवेषणा करनी चाहिए।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्युके इस दुखद भव-चक्रका कोई तो मूलभूत कारण होगा ही। और यदि है तो उसके निवारणका भी कोई उपाय अवश्य होगा। यदि ऐसा कोई उपाय है तो उसके द्वारा भवचक्रसे सर्वथा विमुक्त हो नितांत दुःख-निरोधकी अवस्थाका परम सत्य उपलब्ध किया जा सकता है। किया जाना ही चाहिए। केवल मेरे ही दुःख-निरोधके लिए नहीं। संसार के इतने प्राणी दुखोंसे तड़प रहे हैं। इनकी दुख-विमुक्तिके लिए भी परम सत्यकी खोज करनी आवश्यक है।

गंदगीसे भरे व्यक्ति को अपने मैल धोनेके लिए सरोवर तो है पर वह सरोवरकी खोज ही न करे तो दोष किसका? सरोवरका नहीं।

प्राणघातक दुश्मनोंसे घिरे हुए व्यक्तिके लिए 'भाग' निकलनेका रास्ता तो है परंतु वह उसे ढूंढे ही नहीं तो दोष किसका ? रास्तेका नहीं।

आगकी लपटोंमें घिरे घरमें से भाग निकलनेकी राह तो है पर उसे जाननेका प्रयत्न ही न करे तो दोष किसका ? राह का नहीं।

रोग दूर करने के लिए चिकित्सा तो है पर रोगी उसे उपलब्ध ही न करे तो दोष किसका ? चिकित्सा का नहीं।

जन्म-जन्मांतरोंके भव-चक्रोंसे प्रपीड़ित व्यक्तिके लिए क्लेश-निवारणका मार्ग तो है परंतु वह उस मार्ग की गवेषणा ही न करे तो दोष किसका ? मार्ग का नहीं।

और यह गवेषणा घर बैठे हो नहीं सकती। घर-गृहस्थीमें धर्म के नाम पर अधिकतर कर्मकांड ही चलते हैं। उनमें परम सत्यको खोजना निस्सार में सारको खोजने जैसा ही है। पिताने तत्कालीन दर्शन-शास्त्रोंके आचार्यों को घर बुला-बुलाकर सभी दार्शनिक मान्यताओं पर ऊहापोह करनेके साधन जुटा दिए थे। परंतु इस कोरे चिंतन-मनन मात्र से परम सत्यकी उपलब्धि हो जाए यह असंभव है। पूर्वकालके मुक्त हुए महापुरुषोंने सत्यका साक्षात्कार स्वयं किया और अपने भीतर ही किया। मुझे भी यही करना होगा। परम सत्यकी खोज अपने भीतर ही करनी होगी। इसके लिए अंतर में पैठ सकनेकी कोई वैज्ञानिक विधि ढूंढनी होगी। और फिर इसके निरंतर निर्बाध अभ्यास के लिए अनुकूल वातावरण चाहिए जो कि इस बाह्य प्रेक्षी राजसी वातावरण में पा सकना असंभव है।

परम सत्यके खोजकी इस तीव्र अभिलाषाको सामान्य से लगनेवाले इन चार प्रसंगोने कितना बल दिया। अनिंद्य सुन्दरी परम रूप-लावण्यमयी सेवाभाविनी पत्नी यशोधराका और सुन्दर सुकोमल नवजात शिशु राहुलका सारा आकर्षण त्याग कर सत्य-शोधक राजकुमार सिद्धार्थ गृहत्यागी बना। राज्यके समस्त वैभव-विलास, आमोद-प्रमोदके प्रसाधनोंको इसी निसंगभावसे त्याग कर चल दिया जैसे कोई शौचालयमें जाकर मल-मूत्र त्याग कर चल देता है और उस ओर मुड़कर देखता भी नहीं।

परम सत्यकी खोजमें निकला हुआ मुमुक्षु राजकुमार अनेक जगह भटका, अनेक प्रकार के प्रयोग करके देखे। अपने भीतर समाधि की तलस्पर्शी गहराइयोंको मापनेके लिए उन दिनोंके प्रसिद्ध ध्यान आचार्य आलारकलाम और उद्दकरामपुत्त से क्रमशः ७ वाँ और ८ वाँ ध्यान सीखा। पर इनसे भी इंद्रियातीत परम सत्यका साक्षात्कार न हो सका। यह उन दिनों के प्रचलित ध्यान की बहुत ऊंची अवस्थाएँ थीं। पहलेसे चौथा ध्यान अपने भीतर और पांचवे से आठवाँ ध्यान बाहर अनंत तक फैलनेका ध्यान होता है। इन ध्यानों के कई आलंबन होते हैं। मिट्टी, जल, अग्नि, वायु के अतिरिक्त विभिन्न रंगों व रोशनियोंको भी आलंबन बनाया जाता है। लंबे अभ्यास द्वारा ऐसे आलंबनको संकुचित करते-करते बन्द आंखोंके सामने एक लेश मात्र बिंदु तक सिकोड़कर स्थिर कर लिया जाता है और फिर प्रबल मनोबलसे उस पर पूरा अधिकार जमाने-के अनेक प्रयोग किए जाते हैं। तदनंतर साधक उसे यथेच्छ विस्तृत करता है, फैलाता है। अनंत तक फलाते जाता है। लेशमात्र रंगके बिंदुको और आगे चलकर शुभ्र प्रकाशके बिंदुको अनंत तक फैलाकर साधक अपने चित्तको उसमें समाहित कर लेता है। शुभ्र लेश्यासे अनंत आयतनोंकी पांचवी से आठवीं ध्यान समापत्तियों द्वारा साधकका मानस बहुत अंशोंमें निर्मल हो जाता है। परंतु अन्तर्मनकी गहराइयोंमें अनेक जन्मोंसे संचित कर्म-संस्कारोंके कषाय-क्लेशकी कुछ जड़ें बची रह जाती हैं, उनको भी दूर किए बिना पूर्ण मुक्ति कहाँ ? आठों ध्यानलाभी साधक भवाग्र स्थित अरूप ब्रह्मलोकका अधिकारी अवश्य हो जाता है। पर भवातीत निर्वाण कहाँ ? लोकातीत परम विमुक्तिकी अवस्था कहाँ ? ऐसा साधक अतींद्रिय अनुभूतियाँ प्राप्त करके अनेक प्रकारकी अलौकिक लगने-वाली रिद्धि-सिद्धियोंका अधिकारी अवश्य बन जाता है। पर इंद्रियातीत नित्य, शास्वत, ध्रुव, परम शांतिकी अवस्था कहाँ ? जब तक लेशमात्र भी कर्म क्लेश बाकी हैं, तब तक भवचक्र, लोकचक्र, दुःखचक्र, चलता ही रहता है। जो विमुक्तिके परम सत्यका अन्वेषी है वह भला यहीं कैसे रुकता ? उन ध्यान आचार्यों के पास लेश मात्र बचे हुए अनुशय शुषुप्त क्लेशोंको दूर करनेका कोई साधन नहीं था। अतः राजकुमार तपस्वी अन्य साधनों की खोजमें चल पड़ा।

उन दिनोंकी एक बहुत प्रबल मान्यता यह भी थी कि भिन्न-भिन्न प्रकारसे शरीर को यंत्रणा देनेसे, कष्ट देनेसे कर्म के मैल उतर जाते हैं। क्यों न इसे भी आजमाकर देखा जाय ? असीम वैभव-विलासमें पला हुआ सुकुमार-सुकोमल राजयोगी इस दुष्कर चर्यामें भी दृढ़तापूर्वक लग गया और इसकी भी चरम सीमा तक का प्रयोग करके देख गया। उन दिनोंके प्रचलित सभी देह दंडोंकी तपश्चर्या करके देखी। अनेक प्रकारसे काया पर आतापन-संतापनका प्रयोग किया।

अनेक दिनों कांटोंकी शैय्या पर सोकर देखा। ठिठुरती ठंडमें भीगे वस्त्रों पर सोने का उपक्रम किया। शीतकालमें रात-रातभर खुले मैदानोंमें रहता और दिनमें सीलनभरे घोर वन-खण्डोंमें। ग्रीष्मकी तपती दोपहरीमें बिना छायावाले खुले मैदानोंमें रहता और रातको सघन वन-खण्डोंमें। नाना प्रकारसे शरीर को कष्ट ही देता। नाना प्रकारके अभक्ष्य भोजन करके देखे और जब उपवास करने पर तुला तो ऐसे उपवास किए कि शरीरको सुखाकर कांटा बना लिया। कहीं मांस-मज्जाका नामोनिशान नहीं बचा। केवल हड्डियोंका पिंजर और उस पर सिकुड़ी हुई चाम। ३५ वर्ष की अवस्थामें ८० वर्ष के बूढ़ेसे भी बदतर हालत हो गई। स्वर्णिम आभावाले सुन्दर शरीरका रंग काला पड़ गया। जगह-जगह मैलके चिट्टे जम गये। कूल्हे ऐसे हो गए जैसे ऊँटके पांव। रीढ़की हड्डीके उन्नत-अवनत काँटे ऐसे हो गए जैसे मूंजकी ऐंठनभरी रस्सी। पसलियाँ ऐसी हो गयीं जैसे जीर्ण-शीर्ण मकानकी ढीली होकर अलग-थलग हुई कड़ियाँ-लकड़ियाँ। आँख के गड्ढोंमें पुतलियाँ ऐसी जैसे गहरे कुएँ में किसी तारेका प्रतिविम्ब दीखता हो। सिर पर की चमड़ी ऐसी हो गई जैसे कच्ची तोड़ी हुई लौकी धूपमें सूखकर सिकुड़ गयी हो। पेटकी चमड़ी पीठकी हड्डीसे जा जुड़ी। उसे पकड़ना चाहता तो पीठकी हड्डी के कांटे हाथमें आ जाते। शरीर

इतना कृश और दुर्बल हो गया कि जिस अंगको हाथ का सहारा देकर उठना चाहता वहीं के सड़े हुए जड़वाले लोम उखड़-उखड़कर गिर पड़ते। मल-मूत्र त्यागनेके लिए उठकर चलना चाहता तो एक कदम भी नहीं चल पाता। वहीं भहराकर गिर पड़ता। काय-क्लेश की पराकाष्ठा।

लगभग छह वर्ष तक देह-दंडनकी ऐसी कठोर दुष्कर चर्या करके भी देखा कि आठों ध्यान के बाद अंतर्मनकी गहराइयोंमें जो लेशमात्र अनुशय-क्लेश बचे थे, वह वैसे के वैसे हैं। जरा भी दूर नहीं हुए।

तो बात समझमें आयी कि जिस प्रकार काम-भोग, विलास-वभवका जीवन जीते हुए कोई व्यक्ति एक अतिका जीवन जीता है और मुक्तिसे दूर रहता है, वैसे ही काय उत्पीड़नकी तपश्चर्या में लगा हुआ व्यक्ति दूसरी अतिका जीवन जीता है और वह भी इसी प्रकार मुक्तिसे दूर रहता है। सुधारना मनको है। उसे विकारोंसे विमुक्त करना है। इस विमुक्तिकी साधनाके लिए मध्यम मार्ग की खोज करनी होगी।

युक्त आहार ग्रहण करके शरीरको आर्य साधनाके योग्य बनाकर स्वयं ही अपने भीतर मध्यम मार्ग की साधना की खोज में लग गया। अनेक आंतरिक बाधाओंका सामना करता रहा। अंततः अपने अनेक जन्मोंमें संचित संवर्धित पुण्य-पारमिताओंका अपरिमित बल जाग उठा और विपश्यनाका मुक्तिदायी मार्ग गोचर हुआ।

काम-भोगोंका बंधन स्पष्ट हुआ। देह-दंडनकी निस्सारता स्पष्ट हुई। कर्मकांडोंकी निष्प्रयोजनता स्पष्ट हुई। विभिन्न दार्शनिक मान्यताओंके जंजाल टूटे। स्वानुभूतिके आधार पर जागी हुई भावनामयी प्रज्ञाके बल पर अन्धमान्यताजन्य दर्शन सम्यक्-दर्शन बना। सम्यक्-दर्शन के आधारपर बौद्धिक चिंतन-मननवाला भ्रामक ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूतियोंवाला सम्यक् ज्ञान बना। काल्पनिक विमुक्ति सम्यक्-विमुक्ति बनी। परम कल्याणी सम्यक् सम्बोधिकी उपलब्धि हुई। सारे अनुशय-क्लेश छिन्न-भिन्न हुए। चित्त समस्त विकारोंसे नितांत विमुक्त हुआ। चेतोविमुक्ति प्रज्ञाविमुक्तिमें सहायक हुई। नित्य, शास्वत, ध्रुव, प्रणीत, प्रशांत शिवसे एकाकार हुआ। परम सत्यका साक्षात्कार हुआ।

सिद्धार्थ राजकुमार सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर सम्यक् सम्बुद्ध बना। सर्वथा जाग्रत, प्रबुद्ध, सर्वज्ञ।

सामान्य साधारण से लगनेवाले ये चार प्रतीक किस प्रकार असीम प्रेरणा के प्रसंग बने। साधक के मनमें सत्यान्वेषणका जो झंझावात जागा वह अनंत शांतिकी परम अवस्था तक पहुँचकर ही रुका। साधक धन्य हुआ। ऐसे साधक को पाकर स्वयं साधना धन्य हुई। ऐसा साधक जो कि केवल अपनी ही स्वस्ति-मुक्तिका कारण नहीं बना, बल्कि लाखों-करोड़ोंकी स्वस्ति-मुक्तिका प्रेरणा स्रोत बन गया। मझधारमें डूबते हुओंके लिए प्रकाशमान दीप-स्तंभ बन गया।

हमारे भीतर भी ऐसी मंगलमयी प्रेरणा जागे जो कि असीम शुभ-फलदायी हो!

मंगल मित्र,

स. ना. गो.

## साधकोंके उद्‌गार

### शांति और सुखकी साधना - विपश्यना - चोकोदेही

यह साधना उतनी आसान नहीं है जितनी कि ऊपर से दीखती है। सचमुच बहुत कठिन साधना है।

अपने मार्ग-दर्शक द्वारा बार-बार आदेश मिलते रहनेके कारण मैंने अपने शरीर पर विभिन्न संवेदनाओंका जो अनुभव किया, उससे शरीर के परिवर्तनशील स्वभावको जरा-जरा समझनेमें सफल हुई।

ध्यान करते हुए कभी-कभी मेरी बंद आंखोंके सामने भगवान बुद्धकी मूर्ति प्रकट हो जाती। कभी कोई सुन्दर वृक्ष और कभी-कभी मैं कोई मधुर पाठ सुनने लगती। एक बार तो मुझे अपने कानोंमें चांदीकी घंटियोंके बजने की मधुर आवाज सुनाई दी। मुझे यूं लगा कि वे मुझे कहीं दूरसे बुला रहीं हैं। फिर यों लगा कि यह सब मेरी परीक्षा है। और हमारे आचार्य ने हमें जो आदेश दिए, उसी प्रकार चलने लगी। उनके कहने के मुताबिक इन प्रपंचोंको जरा भी महत्व नहीं देना चाहिए। फिर भी मेरे उष्ण शरीरके चारों ओरके वातावरण में नई उगी घास और सुगंधित सौरभ फैलती जा रही थी। जैसे-जैसे मैं काम करती गयी वैसे-वैसे अपने भीतर अधिक उष्णता महसूस करने लगी। यूं लगने लगा जैसे कोई बहुत धीमी और प्रिय पवन लहरी मेरे सारे शरीर को स्पर्श कर रही हो।

गोयन्काजीकी सारी शिक्षा सत्य और प्रेमसे भरी हुई थी और मेरे भीतर अत्यंत शांति और सुख पैदा कर रही थी। बार-बार भगवान के ये शब्द मेरे मनमें उठ रहे थे जैसे हो, वैसे अपने आपको जानो। मैं जैसी हूँ उस सच्चाई का सामना किया और अपने सही स्वभावको क्षण-प्रतिक्षण जाननेका काम करने लगी।

कभी-कभी ऐसे क्षण भी आए जब मैंने देखा कि मैंने अपना अपनापा खो दिया है। मैं भगवान बुद्धसे संयुक्त हो गयी हूँ। और जी चाहने लगा कि इस प्रकार हमेशा के लिए ध्यान करती रहूँ। एक समय ऐसा भी आया कि जब मैं किसी भी प्रकारकी पीड़ा के बिना घंटो ध्यान में बैठी रहती थी।

कभी-कभी ऐसे भी महसूस हुआ कि शरीरको ओसकी एक बूंद छू गयी है जिसके कारण सारे शरीरमें परिवर्तन हो रहे हैं। सारा शरीर नन्हें-नन्हें परमाणुओंका क्रीड़ा-केंद्र हो गया है। कभी-कभी सारे शरीरमें एक नदीका प्रवाह महसूस होता जो कि बहुत मंद गति से आरंभ होता और बढ़ते-बढ़ते बहुत तीव्र गति तक पहुँच जाता। साधना करते हुए धीरे-धीरे मैं अधिकसे अधिक हल्की होती चली गयी, और मेरी समझ बढ़ती चली गयी। एक बार तो मेरे प्रभापूर्ण शरीरपर मंद वर्षा की फुहारोंने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया। श्री और श्रीमती गोयंकाजीकी मंगल-कामनाओंके पाठने मेरे भीतर तरंगे पैदा की जिससे कि मैं अपनी आंखोंके आंसू नहीं रोक सकी। कभी-कभी तो बहुत देर तक मैं अपने शरीर और विशेषकर हाथों में होनेवाली इन तरंगों को देखती रह जाती।

जसे-जैसे दिन बीतते गए, मैं आर्यमौन के महत्व को अधिकसे अधिक समझने लगी। यह केवल वाणीका ही मौन नहीं है। लेकिन यह भीतर की प्रश्नब्धिकी एक ऐसी अवस्था है जहाँ बोलने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शिविर के अंतिम दिनके प्रातःकाल तो यों लगा जैसे सारा विश्व मौन और शांत हो गया है। मैंने अपने भीतर सही शांति और सुखकी अनुभूति की। सचमुच अपने आपको सुरक्षित महसूस किया। भगवान बुद्धकी विशाल और सनातन शिक्षा से मेरे भीतरकी ग्रंथियाँ खुलीं। मेरा हृदय उन भगवान बुद्धके ध्यानमें लगा जो कि २५०० वर्ष पूर्व हुए थे। यह सब कुछ श्री गोयेन्काजी के प्यार भरे विशुद्ध प्रशिक्षण की वजहसे ही हो सका। मेरा हृदय उनके महान प्रेमके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञतासे भरा हुआ है। मेरा जी चाहता था कि उनकी उपस्थिति अनंतकाल तक रहे। लेकिन मैं यह भी समझती थी कि वह भी तो अनित्य धर्मा हैं।

जिस रात मैं अपने घर लौटकर गयी, उस रात का चंद्रमा भी मुझे भिन्न प्रकारका लगा। वह ज्यादा उज्वल था और पहलेसे ज्यादा सुन्दर। इन दिनोंमें मुझे इतनी आश्चर्यजनक अनुभूतियाँ हुई कि उन्हें शब्दोंपर नहीं उतारा जा सकता। लोगोंको ऐसी अनुभूतियाँ स्वयं साधना करके देखनी चाहिए।

मेरे जीवनमें आत्म-बलिदान की भावना पहलेसेही रही है। लेकिन अब तो इतना उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ है। इस शिक्षाको जो प्राप्त किया है, उसके आधार पर मैं आत्म विशुद्धि करती रहूँ और अच्छेसे अच्छा जीवन जीती रहूँ, यही मंगल कामना है।

मैं अपने हृदयकी गहन गहराइयोंसे श्री गोयंकाजीके दीर्घ जीवन, सुख और स्वास्थ्यकी मंगल कामना करती हूँ। जिन लोगोंने मुझे इस शुद्ध धर्मकी ओर जानेकी प्रेरणा दी, उनके प्रति मन कृतज्ञतासे भरा है। सबका अनेक धन्यवाद!

सितम्बर १९८२, ओसाका, जापान.

---


**मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास**
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–११० ००७.
की मंगल कामनाओं सहित
↓


## दूहा धरम रा

जै बुधजी ना ढूंढता, सम्यक् दरसन ग्यान।
तो भव भव ही भटकता, बंधन बँध्या अजान ॥१॥
उलझन ही उलझन बढ़ी, मिल्यो न भव रो अंत।
मुक्ति मोच्छ निरबाण रो, पंथ दियो भगवन्त ॥२॥
जनम मरण रै रोग री, ओसध मिली अमोल।
धन्य बुद्ध जी! जगत नै इमरत दीन्यो घोल ॥३॥
करतो हो करतो र यो, मिथ्या बाद–बिबाद।
दरसन जद सम्यक् बण्यो, चाख्यो मुक्ती स्वाद ॥४॥
निकमै चिंतन मनन नै, मान र यो थो ग्यान।
जद प्रग्या निरमल हुई, जाग्यो सम्यक् ग्यान ॥५॥
थोथै बुद्धि–किलोल मँह, जीवन देतो खोय।
जै हिवड़ै ना जागती, सुद्ध धरम री लोय ॥६॥

## दोहे धर्म के

छिलके ही छिलके मिले, निपट निरर्थ निस्सार।
कर्मकांड में कब मिला? सत्य धर्म का सार ॥१॥
बाहर बाहर भटकते, रहा सत्य अति दूर।
अन्तर दर्शन से मिला, परम सत्य भरपूर ॥२॥
बढ़ता ही बढ़ता गया, दुखमय भव संसार।
बिन अन्तर दर्शन किए, मिला न परला पार ॥३॥
जरा व्याधि भव मृत्युका, चले चक्र दुख–मूल।
बिन अन्तर प्रज्ञा जगे, कटे न भव भय शूल ॥४॥
अतियों का जीवन जिया, भोगे भोग विलास।
या फिर अतियों में पड़े, दिया काय को त्रास ॥५॥
इन अतियों को छोड़कर, मध्यम पाए पंथ।
तो सम्यक् दर्शन जगे, होय दुःखोंका अंत ॥६॥


सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के लिए प्रकाशक, मुद्रक एवं संपादक : रामप्रताप यादव, धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२ ४०३. दूरभाष : ८६
मुद्रण स्थान : अक्षरचित्र मुद्रणालय, सातपूर, नासिक–४२२ ००७. टेलिफोन : ८८२५१ ● वार्षिक शुल्क रु. १०/–आजीवन शुल्क रु. १००/–

"विपश्यना" 1/85

पो. र. नं. NS(M) 18/84

Licence No. NS 18
Licensed to post without pre-payment


प्रेषक :
सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट
विपश्यना विश्व विद्यापीठ
धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२ ४०३.
(नासिक, महाराष्ट्र)

To